शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ९

इष्ट उपदेश

इष्ट उपदेश अर्थात् जो आत्मा को हितकर हो; जिससे निज शुद्धात्मा की दृष्टि, उसका ज्ञान एवं आनन्द प्राप्त हो। राग-द्वेष-पुण्य-पाप तथा बंधन का लक्ष छोड़कर, उसकी रुचि छोड़कर नित्य ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो तो धर्म का (सुख का) प्रारम्भ (-मोक्षमार्ग) और मोक्षदशा प्रगट हो सकती है।—यह इष्ट उपदेश है।

(—पूज्य गुरुदेव)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२००]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

ग्राहकगण को सूचना

आत्मधर्म के जिन ग्राहकों को अपना पता बदलवाना हो अथवा पते की गलती से अंक न मिलता हो, वे फिर से अपना सही पता मयग्राहक नम्बर के सीधा कमल प्रिन्टर्स पो० मदनगंज, (किशनगढ़) को लिखें। —प्रकाशक

नया प्रकाशन

मूल में भूल (तीसरी आवृत्ति)

भैया भगवतीदासजी और कविवर बनारसीदासजी कृत निमित्त-उपादान के दोहों पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवचन, जिसमें उपादानरूप निज शक्ति के अनुसार शुद्धरूप या अशुद्धरूप सभी परिणमन अपनी अपनी स्वतंत्रता से होते हैं, अन्य तो निमित्तमात्र-व्यवहारमात्र कारण है, ऐसा न मानकर निमित्त के अनुसार कार्य मानना मूल में भूल है—यह स्पष्ट किया है।

[पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य ५५ नये पैसे]

खास सूचना

सत्साहित्य योजना के अनुसंधान में जो पत्र आते हैं, उसमें पता पूरा न लिखने से देरी होती है। जो भी संस्थायें पत्र लिखें वे अपना नाम, गाँव, पता, जिला, रेलवेस्टेशन ठीक से अंग्रेजी में ही लिखें, या खूब अच्छी तरह साफ अक्षरों में लिखें।

इस योजनानुसार, सिर्फ संस्थाओं पाठशाला और मंदिरजी इत्यादि को ही भिजवाने के हैं। व्यक्तिगत नहीं।

व्यवस्थापक-पुस्तक प्रकाशन विभाग
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जनवरी : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, पौष, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : ९

दीक्षा कल्याणक का वैराग्य प्रेरक

प्रवचन

(—जामनगर में श्री पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन)

[माघ शुक्ला ५, तारीख २१-१-६२]

कुछ ही समय पहले यहाँ भगवान पार्श्वनाथ का दीक्षा-महोत्सव हुआ। भगवान के पूर्व भवों में आत्मज्ञान तो था ही। तीर्थंकर पद प्राप्त करनेवाला आत्मा जब उस भव में जन्म लेता है, तब तीन ज्ञान लेकर आता है। कोई नरक क्षेत्र से तथा कोई स्वर्ग से आकर तीर्थंकर होता है। गर्भ, जन्म, दीक्षा (-तप), केवलज्ञान और निर्वाण (-मोक्ष)—ऐसे पंचकल्याणकवाले तीर्थंकर तो तीन भव पूर्व से ही तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लेते हैं। सम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग से उस कर्म का बंध होता है। अहो! सब जीव ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता का मार्ग प्राप्त करें और मैं पूर्ण होऊँ—ऐसे राग के निमित्त से कर्मबंध हुआ। वह राग और कर्म दोनों अनित्य हैं; तीर्थंकर का शरीर भी अनित्य है। तीर्थंकर पद तो केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् प्राप्त होता है, किंतु गृहस्थदशा में वैराग्य होने पर उन्हें जातिस्मरणज्ञान होता है और विशेष वैराग्यवान होकर निर्ग्रंथ दशा धारण करते हैं। जगत से उदास होकर तीर्थंकर भी ऐसी भावना भाते हैं कि—मैं शरीर नहीं हूँ, वाणी नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, और न उनका कारण, कर्ता या प्रेरक (करानेवाला) हूँ। शरीर अनित्य है, पुण्य-पाप, राग-द्वेष-मोह आस्रव अनित्य हैं, मलिन हैं; आत्मा नित्य निर्मल है।

अनित्यता कैसी है कि—माता जन्म दे, उससे पूर्व ही यह शरीर अनित्य-माता की गोद में

पहुँच जाता है। माता तो उसके बाद गोद में लेती है। तीर्थंकर को यह भेदज्ञान तो प्रथम से ही होता है कि मैं किसी का पुत्र नहीं हूँ; और वैराग्य के हेतु उसकी विशेष रूप से भावना भाते हैं। उसी भव में मोक्ष जाना निश्चित है—तो भी सर्व तीर्थंकर अनित्यादि बारह भावना भाते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी भावना भाते थे कि:—

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे,
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो;
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत पुरुषने पंथ जो।
अपूर्व अवसर.....
सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो।
अपूर्व अवसर.....

जगत्गुरु तीर्थंकरदेव के वैराग्य की तो बात ही क्या!! वे तो महान् गंभीर सहज वैराग्य की मूर्ति हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुए वे संत शिरोमणि उसी भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाले होते हैं।

मुनिदशा (साधु परमेष्ठी) तीनों काल बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ ही होती है। बाह्य में वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता और अंतर में तीन कषाय के अभावपूर्वक वीतरागी शांतदशारूप चारित्र होता है। अंतर में राग का संग नहीं और बाह्य में वस्त्र का संग नहीं। मुनिदशा धारण करके तीर्थंकर भगवान ध्यान में लीन होते हैं और तुरंत ही चौथा मन:पर्यय ज्ञान प्रगट होता है। जब तक केवलज्ञान प्रगट न करें, तब तक बारम्बार छठवें-सातवें गुणस्थान में आते हैं और अतीन्द्रिय निर्विकार चिदानंदस्वरूप में बारम्बार लीनता का स्वाद लेते हुए आनन्द के झूले में झूलते हैं।

धर्मी जीव तीर्थंकरों की उत्कृष्ट वैराग्यदशा का स्मरण करके अपनी जागृति बढ़ाते हैं। मुनिदशा ऐसी होती है कि—"मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।" शरीर को छोड़ा नहीं जाता, किंतु अन्य सब छूटने योग्य है। इसलिये नग्न शरीर होने पर भी, उसे संयम का हेतु मानकर आहार देने का राग आता है। किंतु किसी मुनि को वस्त्र-पात्रादि लेने या रखने का राग कभी नहीं आता; क्योंकि वे तो गृहस्थदशा संबंधी राग के निमित्त हैं। इसलिये मुनिदशा में (साधुपद में) वस्त्र-पात्रादि कभी तीन काल में संयम के हेतु नहीं होते।

मुनि को स्नान क्यों नहीं? उसका कारण यह है कि वह शृंगार में आ जाता है। इन्द्रियविजेता के वह नहीं होता। तत्त्वज्ञानपूर्वक अदंत धावन, नग्नता आदि दशा तो उसी के होती है जिसकी शरीर के प्रति आसक्ति छूट गई हो। जिसके तीन कषायरहित अन्तर्लीनतारूप आनन्ददशा प्रगट हो, उसकी बाह्यदशा भी तदनुसार ही होती है। "नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता"—यह सब होते ही हैं। अंतर में निर्मलानंद चिद्रूप के स्पर्श-अनुभव का निरंतर वेदन करते हैं, उन्हें बाह्य जल के स्नान करके शरीर को उज्ज्वल करने का भाव नहीं आता। उनकी तो ऐसी भावना होती है कि—अंतर में एकाग्रता द्वारा आनन्द की लहर में ऐसे झूलें कि शक्तिरूप से जो आनन्द भरा है, उसका स्वाद लेते हुए तृप्त-तृप्त हो जायें। अतीन्द्रिय आनन्द में नित्य केलि करना जिसका सहज स्वभाव है, ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा... उसकी ज्ञानी भावना भाते हैं। पंण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि:—

"कहै विचक्षण पुरुष सदा हूँ एक हों,
अपने रससें भर्यो अनादि टेक हों,
मोहकर्म मम नांहि, नांहि भ्रम कूप है,
शुद्ध चेतना सिन्धु हमारा रूप है।"

वीतराग होने की रुचिवाला जीव चारित्र प्रगट होने से पूर्व वीतराग चारित्र की भावना भाता है।

मोह अर्थात् स्वरूप में असावधानी, वह क्षणिक है; मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है। मेरे त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव में उसका कभी प्रवेश नहीं होता। ज्ञानी को ऐसी श्रद्धा-ज्ञान होते ही हैं। पर में सुख बुद्धि-पर से सुख-दु:ख मानना, पर का कर्ता-भोक्ता या स्वामी हूँ, ऐसी मान्यता, सो भ्रमणा है; वह मोह कूप है; उसमें जीव अनादिकाल से गिरता आया है; किंतु जो जीव स्व-पर का भान करके जागृत हुआ और अनादिकालीन ध्रुव निर्मलस्वभाव को जाना, वह मलिनता को अपना स्वरूप नहीं मानता। ज्ञानियों को मुनिदशा में घोर तपश्चर्या होती है किंतु उनके मन को संताप नहीं होता। "घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहिं"—ऐसा उसका स्वरूप होता है।

जब समुद्र के मध्य में पानी उछलता है और ज्वार आता है, उस समय बाह्य में सूर्य का तापमान ११८° (डिग्री) हो, किंतु वह ज्वार को भाटारूप होने का कारण नहीं हो सकते। उसीप्रकार आत्मा के अंदर त्रैकालिक अनंत शक्ति का भंडार है; उस गहरे भंडार में से ध्रुवस्वभाव की रुचि द्वारा जो जागृत हुआ, उसे ऐसी प्रतीति होती है कि अतीन्द्रिय स्वभाव मुझ में ही भरा है।

ऐसी प्रतीति होने के पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा चारित्र में निर्ग्रंथदशा होने से बाह्य में प्रतिकूलता के समूह आयें तो भी वे विघ्नकारी नहीं बन सकते। तप का लक्षण इच्छा निरोध है और अस्ति से उसका लक्षण चैतन्यानन्द में प्रतापवंतरूप से शोभायमान होना है।

आत्मा के अपार आनन्दरस का स्वाद लेने में जो उत्साहवान हुआ है, उसे कदाचित् बारह मास तक आहार न मिले तो भी दीनता नहीं आती, क्योंकि अतीन्द्रिय परमानन्द की डकारें लेता हुआ वह बाह्य में कहीं स्वाद का अनुभव नहीं करता। कदापि सरस भोजन का योग मिले, तब भी उसे प्रसन्नता का राग (रतिभाव) उत्पन्न नहीं होता।—ऐसे अपूर्व अवसर की भावना धर्मी जीव अपने आत्मा के निकट करता है।

श्रीमद् कहते हैं कि—

''रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।''

सचमुच आत्मानन्द के समक्ष सब ऋद्धि धूल ही है। भरना और खाली होना तो उसका स्वभाव है। उसका ममत्व और प्रेम छोड़कर हम तो आत्मानंद में झूलेंगे.... जिस मार्ग पर अनंत वीतराग संत चले, वही हमारा पंथ है। पुण्य अच्छा और पाप के संयोग बुरे—ऐसा भेद (-विषम भाव) मन में नहीं आता।

पुनश्च, वे कहते हैं कि—

''एकाकी विचरतो वली स्मशान मां,
वली पर्वत मां बाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मनने नहिं क्षोभता,
परममित्रनो जाण्ये पाम्या योग जो।''

आत्मानंद में झूलते हुए संतों को शरीर की परवाह नहीं होती। तप में खेद होता ही नहीं। भगवान होने के लिये भगवान कथित चारित्र की रमणता में मस्त-लीन-आरूढ़ होने से खेद-(कष्ट) नहीं रहता। तप में (मुनिदशा में) खेद होता ही नहीं, वहाँ तो आनन्द ही होता है। जहाँ दूसरे लोग भय और खेद समझते हैं, वहाँ संतों को अतीन्द्रिय आनन्द की अधिकता ही है। वन-पर्वत में सिंह-बाघ का संयोग भले हो, किंतु जहाँ शाश्वत चैतन्यस्वरूप की अभिन्नता का स्वाद लेने में लीन हुए वहाँ शरीर का अडोल आसन होता है—मुख्यतः शरीर की ऐसी ही दशा होती है।

शरीर, जीव से भिन्न है। इस समय भी प्रत्यक्ष भिन्न ही है। हमें शरीर की आवश्यकता नहीं है। सिंह को उसकी आवश्यकता है; इसलिये ले जाये तो वह हमारा मित्र है। सिंह आकर शरीर को पकड़े, उस समय हम अडोल आत्मस्थिरता ग्रहण करें—ऐसी अडोल आत्मस्थिरता की भावना ज्ञानी भाते हैं। मैं अविनाशी अनंत गुणसम्पन्न आत्मा हूँ, शरीर में तीन काल मैं नहीं हूँ—ऐसे भानपूर्वक चारित्र में आरूढ़ मुनिपद का चारित्र अलौकिक है। जगत की परवाह छोड़कर जगत से उदास होकर वन में एकाकी वास करने में मुनि को खेद नहीं होता। लोगों ने अभी निश्चय सम्यग्दर्शन क्या, उसका स्वरूप नहीं सुना और सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र कभी नहीं होता।

अन्यत्र कहते हैं कि—

विद्युत, लक्ष्मी, प्रभुता, पर्तग;
आयुष्य ते तो जलना तरंग;
पुरंदरी चाप अनंग रंग,
शुं राचिये ज्यां क्षणनो प्रसंग।

आत्मा के अनुभव से प्रगट होनेवाली केवलज्ञान लक्ष्मी का नाश नहीं होता; किंतु जगत जिसे लक्ष्मी (धन) कहता है, वह तो बिजली की चमक के समान है। आत्मा की प्रभुता से विरुद्ध जो प्रभुता—बड़प्पन माना है, वह तो पतंग के कच्चे रंग के समान है—नाशवान है। बाह्य लक्ष्मी की प्राप्ति वर्तमान बुद्धिमत्ता या चतुराई से नहीं होती किंतु पूर्व पुण्य से होती है। वास्तव में पैसा तुझे नहीं मिला है, ममता मिली है। कारण कि तूने ममता की है और वही तेरे साथ रहती है; परवस्तु को आत्मा ग्रहण कर ही नहीं सकता। वह तो जल की तरंग के समान है, जिसे कोई पकड़ नहीं सकता। कामभोग की वासना आकाश में उदित होनेवाले इन्द्रधनुष समान है। सुंदर शरीर, यौवन, पाँच इन्द्रियों के विषय क्षणभर में विलीन हो जाते हैं। "शुं राचिये ज्यां क्षणनो प्रसंग!" देखो, नित्य के लक्ष से अनित्य का वैराग्य!

संसार की कैसी विचित्र दशा है! जिस माता के उदर से जन्म लिया, उसी के साथ यह जीव अन्य जन्म में भोगोपभोग करता है! जो पत्नी थी, वही दूसरे भव में माता होती है! पत्नी के साथ भोगोपभोग करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है और उसी भव में उसी के गर्भ से पुत्र बनकर जन्म लेता है!—इसप्रकार अल्पकालीन जीवन के लिये अनेक प्रकार के क्लेश, छल-कपट करता है और पशु योनि में घोर कष्ट सहता है! धिक्कार है ऐसे संसार को!

आत्मज्ञानपूर्वक वैराग्य की वृद्धि के हेतु अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ तथा धर्म—यह बारह भावनाएँ धर्मी जीव के होती हैं; तीर्थंकर भी यह भावनाएँ भाते थे। इन भावनाओं में शुभविकल्प (राग) होता है, वह धर्म नहीं है, किंतु साथ ही स्वोन्मुखता से जितनी शुद्धदशा वर्तती है, उतना धर्म है।—ऐसा जानते हुए संसार, शरीर, भोग आदि सर्व आस्रवों से भेदज्ञानपूर्वक पृथक् होकर अंतर्मुख होना ही परम कर्तव्य है—और ऐसी श्रद्धा जीव को निरंतर करना चाहिये।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

(गाथा ४७, अंक १९५ से आगे..... वीर संवत् २४८२, अषाढ़ शुक्ला पंचमी)

यह समाधि अधिकार है अर्थात् आत्मा को समाधि कैसे हो, शांति कैसे हो—उसकी बात चल रही है। कैसे ग्रहण-त्याग से समाधि होती है, वह इसमें कहते हैं—

* जो चैतन्यस्वभाव को जानकर परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वरूप परमात्मा हो गये, उन्होंने तो ग्रहण करने योग्य ऐसा अपना शुद्धस्वरूप ग्रहण कर लिया है और त्यागने योग्य ऐसे मोह-राग-द्वेष को छोड़ दिया है, इसलिये उन्हें अब कुछ भी ग्रहण करना या त्यागना नहीं रहा; उन्हें तो पूर्ण समाधि ही है।

* जो अंतरात्मा हैं, उन्होंने शरीर आदि समस्त पदार्थों से अपने चैतन्यस्वरूप को भिन्न जाना है; इसलिये पर में तो किसी का ग्रहण या त्याग करना वे मानते नहीं हैं; अपने ज्ञानानन्दस्वरूप

को ही उपादेय जाना है और परभावों को हेय जाना है, इसलिये चैतन्यस्वभाव का ही ग्रहण करके, (-उसमें लीनता करके) परभावों को वे छोड़ते जाते हैं और उन्हें समाधि होती जाती है।

* और मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा तो बाह्य पदार्थों के साथ अपने को एकमेक मानता है, परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है, इसलिये वह अनुकूल परपदार्थों पर राग करके उन्हें ग्रहण करना चाहता है तथा प्रतिकूल परपदार्थों पर द्वेष करके उन्हें छोड़ना चाहता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, राग-द्वेष के कारण पर का ग्रहण-त्याग मानता है। इसप्रकार मिथ्या अभिप्राय के कारण उसका त्याग भी द्वेषगर्भित है; उसे समाधि नहीं होती किंतु असमाधि ही रहती है।

घर या गुफा, महल या जंगल—वे सब आत्मा से भिन्न परद्रव्य हैं; तथापि अज्ञानी बाह्य दृष्टि ऐसा मानता है कि घर छोड़कर गुफा में चला जाऊँ तो शांति प्राप्त हो... किंतु भाई, गुफा में शांति है या आत्मा में? मकान तुझे अनिष्ट है या तेरा मोह? मोह को तो छोड़ता नहीं है और मकान को अनिष्ट मानकर छोड़ना चाहता है, वह अभिप्राय ही झूठा है; और मिथ्या अभिप्रायसहित त्याग तो द्वेष से परिपूर्ण है।

चैतन्य गुफा में प्रवेश करके शांति के वेदन में लीन होने पर, बाह्य पदार्थों के प्रति राग-द्वेष-मोह की वृत्ति ही न हो, उसका नाम त्याग है; और जहाँ राग-द्वेष-मोह दूर हुए, वहाँ उनके निमित्त (वस्त्रादि) भी सहज ही छूट जाते हैं; इसलिये उनका त्याग किया—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। सचमुच बाह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग ज्ञानी मानते ही नहीं; उन्हें अंतर में अपने भाव का ही ग्रहण-त्याग है। वे अंतर में स्वभाव को ग्रहण करके (श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेकर) रागादि को छोड़ते हैं। जिसने राग से पार चिदानन्दस्वभाव को जाना ही न हो, वह रागादि को छोड़ेगा कैसे? अज्ञानी को आत्मा का तो भान नहीं है और बाह्य पदार्थों को ही देखता है, इसलिये बाह्य-सन्मुख ही वर्तता हुआ राग-द्वेष से पर पदार्थों को ग्रहण करना-छोड़ना मानता है; इस विपरीत मान्यता में उसके स्वभाव का त्याग तथा रागादि विभाव का ग्रहण हो जाता है।—पर का ग्रहण-त्याग तो उसे भी नहीं होता।

इस गाथा में तीन बातें बतलायी हैं—

(१) परमात्मा को कुछ भी ग्रहण-त्याग करना नहीं रहा है।

(२) अन्तरात्मा को अपने अन्तरभावों में ही ग्रहण-त्याग है।

(३) बहिरात्मा बाह्य में ग्रहण-त्याग करना मानता है।

(१) परमात्मा तो चिदानन्द तत्त्व को समस्त परद्रव्यों एवं परभावों से भिन्न जानकर, चैतन्यस्वरूप में ही स्थिर हो गये हैं, इसलिये उन्होंने ग्रहण करनेयोग्य ऐसे अपने ज्ञान-आनन्द को ग्रहण कर लिया है और छोड़नेयोग्य परभावों को सर्वथा छोड़ दिया है; इसलिये वे कृतकृत्य हैं। अब कुछ भी ग्रहण करना या छोड़ना उन्हें शेष नहीं रहा है। इसप्रकार परमात्मा तो ग्रहण-त्याग से रहित है।

(२) अन्तरात्मा ने अपने चिदानन्दस्वरूप को समस्त परद्रव्यों एवं परभावों से भिन्न जाना है; किंतु अभी उसमें पूर्ण लीनता नहीं हुई और रागादि सर्वथा छूटे नहीं हैं; इसलिये वे अंतर-प्रयत्न द्वारा शुद्ध ज्ञान-आनन्द को ग्रहण करना चाहता है और रागादि को छोड़ना चाहता है। बाह्य पदार्थों से तो स्वयं पृथक् ही है—ऐसा जाना है; इसलिये बाह्य में तो कुछ ग्रहण करने या छोड़ने जैसा वह मानता ही नहीं है। अंतर्मुख होकर ग्रहण करनेयोग्य ऐसे शुद्ध आत्मा को ग्रहण करके (-उसमें एकाग्र होकर) रागादि परभावों का त्याग करता है। इसप्रकार अंतरात्मा को अपने भावों में ही ग्रहण-त्याग है।

(४ से १२ गुणस्थान तक अंतरात्मापना है,)

(३) बहिरात्मा अंतर के चैतन्यतत्त्व को नहीं जानता है और बाह्य पदार्थों को ही देखता है, इसलिये बाह्य पदार्थों में ही इष्ट-अनिष्टपना मानकर, उन्हें ग्रहण करना या छोड़ना चाहता है। इसप्रकार वीतरागी अभिप्राय के अभाव में उसे परभावों का त्याग तो नहीं है किंतु राग-द्वेष के अभिप्राय से वह बाह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना मानता है। इसलिये कदाचित् बाह्य में त्यागी दिगम्बर साधु होकर वन में रहे तथापि उसे असमाधि ही है। चैतन्य में अंतर्मुख होकर मिथ्यात्वादि परभावों का त्याग किये बिना कभी समाधि होती ही नहीं। धर्मात्मा कदाचित् गृहस्थपने में हो तथापि चैतन्य में अंतर्मुख होने के कारण मिथ्यात्वादि परभाव जितने अंश में छूट गये हैं, उतने अंश में उन्हें समाधि ही वर्तती है। खाते-पीते, चलते-फिरते, जागते-सोते सर्व प्रसंगों पर उतनी वीतरागी समाधि-शांति उन्हें वर्तती ही रहती है।

बाह्य ग्रहण-त्याग के द्वारा अंतर का माप नहीं निकाला जाता। अंतर्दृष्टि को न जाननेवाले बाह्यदृष्टि मूढ़ लोग, बाह्य त्याग देखकर ठगे जाते हैं, वे लोग धर्मात्मा की अंतरदशा को नहीं जानते। बाह्य में कुछ भी त्याग न हो, राजपाट और भोगोपभोग के संयोग के बीच में विद्यमान हों तथापि वह जीव धर्मात्मा क्षायिक सम्यक्त्वी भी होता है तथा उसको एक भव ही शेष रहता है; और

मिथ्यादृष्टि जीव, विशाल राजपाट और हजारों रानियों को छोड़कर, दिगम्बर त्यागी-साधु बनकर वन में वास करता हो, तथापि वह अनंत संसारी होता है ! बाहर से देखनेवाले मूढ़ जीव किन आँखों से इसका नाम-मूल्यांकन करेगा ?—किसप्रकार उन्हें पहिचानेगा ? वह तो बाह्यदृष्टि की मूढ़ता के कारण, बाह्य त्याग देखकर अनंत संसारी को भी महान धर्मात्मा मान लेगा, और एकावतारी धर्मात्मा को पहिचानेंगा नहीं। अंतरंग अभिप्राय को जाने बिना धर्मी-अधर्मी की सच्ची प्रतीति नहीं होती ॥४७॥

["समाधिशतक", गाथा-४८]

(वीर संवत् २४८२, अषाढ़ शुक्ला ६)

अंतरात्मा अपने ज्ञान को आत्मा में ही लगाकर मन-वचन-काया के आलम्बन (जुड़ना) को छोड़ता है। इसप्रकार धर्मी को आत्मा के अतिरिक्त कहीं ग्रहण-बुद्धि नहीं होती। अस्थिरता के कारण मन-वचन-काया की ओर जो वृत्ति जाती है, उसे भी छोड़कर चैतन्य में ही एकाग्रता करना चाहता है, सो बतलाते हैं—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

धर्मी अंतरात्मा अपने मन को अर्थात् ज्ञान के उपयोग को आत्मा में युक्त और वचन-काय से पृथक् करता है। वचन-काय की क्रियाओं के साथ मन की एकाग्रता को छोड़कर तथा चिदानन्दस्वभाव में ही ज्ञान को एकाग्र करके उसे ग्रहण करता है। इसमें परद्रव्य को छोड़ने की बात नहीं है किंतु परद्रव्य की ओर का उपयोग छोड़ता है और आत्मा में उपयोग लगाता है। पर से भिन्नता को जाने बिना वहाँ से उपयोग कैसे हटेगा ? तथा परद्रव्य से भिन्न स्वद्रव्य को जाने बिना उपयोग वहाँ एकाग्र कैसे होगा ? और उपयोग स्वरूपोन्मुख हुए बिना समाधि किसप्रकार होगी ? इसप्रकार स्व-पर के भेदज्ञान के बिना कभी समाधि नहीं होती। जहाँ शरीर-वाणी आदि का कर्तृत्व मानेगा, वहाँ उसी ओर उपयोग ढलेगा, किंतु वहाँ से हटकर स्वोन्मुख नहीं होगा और उपयोग स्वोन्मुख हुए बिना शांति भी नहीं हो सकती।

धर्मी ने अपने आत्मा को देहादि से अत्यन्त भिन्न जाना है; इसलिये समाधि सिद्ध के लिये, अर्थात् आत्मा की परम शांति का अनुभव करने के लिये अपने उपयोग को शरीरादि से विमुख करके स्वरूपोन्मुख करता है। उपयोग को स्वरूप में लगाना ही परम शांतिदायिनी अध्यात्मभावना

है। इस शास्त्र में पुनः पुनः उसी का उपदेश तथा उसी की भावना की है।

जितनी बहिर्मुखता उतना दुःख तथा अंतर्मुख चैतन्यवेदन में ही सुख है—ऐसा स्वसंवेदन से जान लेने के कारण धर्मी अपने उपयोग में आत्मा को ही ग्रहण करना चाहता है। जगत के किसी भी बाह्य पदार्थ में उपयोग भटक जाये तो वहाँ उसे अपना सुख भासित नहीं होता। एक निजस्वरूप में ही सुख भासित हुआ है; इसलिये पर की ओर के व्यापार को छोड़कर उपयोग को स्वोन्मुख करता है, अर्थात् स्वद्रव्य को ही ज्ञान में ग्रहण करता है।—यह धर्मी जीव के ग्रहण-त्याग की विधि है। इसके अतिरिक्त बाह्य में कोई ग्रहण-त्याग नहीं है। उपयोग में जहाँ स्वद्रव्य का ग्रहण हुआ, वहाँ समस्त परद्रव्य एवं परभाव उपयोग से बाहर पृथक् ही रह जाते हैं, और स्वोन्मुख उपयोग उनके त्यागस्वरूप ही है; इसप्रकार उपयोग की निजस्वरूप में सावधानी ही समाधि है; वही मोक्षमार्ग है; उसमें ग्रहण करनेयोग्य सर्व का ग्रहण एवं त्याग करनेयोग्य सर्व का त्याग हो जाता है।

इस प्रकार अंतरात्मा की ग्रहण-त्याग की विधि समझाई ॥४८॥

धर्मात्मा ने अंतर्मुख होकर ऐसा अनुभव किया है कि निजस्वरूप में ही सुख है; इसलिये वह उसी का विश्वास करके उसमें रमण करता है; निजस्वरूप से बाह्य किसी भी पदार्थ को वे विश्वस्त या रम्य (सुखरूप) नहीं मानते। जिन्हें सुखस्वरूप आत्मा का भान नहीं है और शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं—ऐसे मूढ़ जीव ही परपदार्थ में सुख की कल्पना करके उसे रम्य मानते हैं तथा उसका विश्वास करते हैं।—यह बात अगली गाथा में कहते हैं—

जगत्देहात्मदृष्टिनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टिनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

जब तक शरीर में आत्मबुद्धि है, तभी तक जगत के पदार्थ विश्वसनीय एवं रम्य लगते हैं; अर्थात् बहिरात्मा को ही जगत के पदार्थों में सुख भासित होता है; किंतु जहाँ अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि हुई, वहाँ अन्य काहे में विश्वास होगा? अथवा अन्यत्र कहाँ रति होगी? अंतरात्मा को अपने से बाह्य जगत के किसी भी पदार्थ में सुख भासित नहीं होता अर्थात् उसमें विश्वास या रति नहीं होती.... चैतन्यस्वरूप का ही विश्वास करके उसी में रमते हैं।

देखो, यह धर्मात्मा का रम्यस्थान! शांति का हरियाला प्रदेश छोड़कर धधकते हुए वीरान प्रदेश में कौन रमेगा?—उसीप्रकार बाह्य पदार्थ तो इस आत्मा के सुख के लिये वीरान प्रदेश जैसे हैं, उनमें कहीं सुख या शांति का एक बिन्दु भी नहीं है; उस ओर की वृत्ति से तो धधकते हुए अंगारों

की भाँति आकुलता होती है। और चैतन्यप्रदेश में रमण करने से परम शांति का वेदन होता है। तो फिर ऐसे शांत, रम्य चैतन्यप्रदेश को छोड़कर उजाड़, वीरान ऐसे परद्रव्य में कौन रमे ?—उसे रम्य कौन माने ? धर्मात्मा तो उसे कदापि रम्य नहीं मानेगा। जिन्होंने शांतिधाम ऐसा रम्य आत्मप्रदेश नहीं देखा, ऐसे मूढ़ जीव ही परद्रव्य में सुख की कल्पना करके उसे रम्य समझते हैं।

''जगत में जो पदार्थ दु:खदायी हैं, वे भले रम्य न हों; किंतु जो सुखदायक हैं—ऐसे स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि को तो रम्य कहो ?''—ऐसा किसी अज्ञानी को प्रश्न उठे तो उसका समाधान इस गाथा में किया है। अरे मूढ़ ! बाह्य पदार्थ तुझे सुखरूप रम्य लगते हैं, यह तेरी बाह्यदृष्टि और देहदृष्टि के कारण ही है। वास्तव में अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सुखरूप या रम्य है ही नहीं।

जिसे शरीर में आत्मबुद्धि है उसे संयोग में सुखबुद्धि है और उसे समस्त जगत विश्वास योग्य तथा रम्य लगता है। ज्ञानी तो अपने आत्मा को जगत से भिन्न जानकर आत्मा को ही विश्वास योग्य तथा रम्य जानता है। अपने चैतन्यतत्त्व में ही जिसकी दृष्टि है उसे बाह्य में किसका विश्वास ? और किसका प्रेम ? बाह्य के किन्हीं भी पदार्थों में मेरा सुख है—ऐसा विश्वास ज्ञानी नहीं करते। अज्ञानी, परवस्तु को अपने सुख का कारण मानकर उसका विश्वास एवं प्रीति करता है, किंतु आत्मा में सुख है, उसका विश्वास या प्रीति वह नहीं करता। ज्ञानी को चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का वेदन हुआ है; इसलिये उसी का विश्वास तथा उसी की प्रीति है। जगत में कहीं मेरा सुख है ही नहीं—ऐसा भान है, इसलिये पर में कहीं सुखबुद्धि से आसक्ति नहीं होती। इसप्रकार आत्मा की ही रति होने से ज्ञानी अपने आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्य अधिक काल धारण नहीं करते—यह बात आगामी गाथा में कहेंगे।

विश्वास योग्य, अर्थात् श्रद्धा करनेयोग्य, और रम्य अर्थात् रमने योग्य-लीन होनेयोग्य। ज्ञानी तो आत्मा में ही सुख जानकर उसी की श्रद्धा और लीनता करते हैं; अज्ञानी पर में सुख मानकर उसी की श्रद्धा और लीनता करते हैं, इसलिये उसे जगत के बाह्य विषय सुखकर और प्रिय लगते हैं; आत्मा उसे प्रिय नहीं लगता। ज्ञानी को आत्मा ही प्रिय लगता है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ उसे प्रिय नहीं लगता।—'जगत् इष्ट नहीं आत्म से।'

आत्मा के स्वभाव से बाहर लक्ष जाने पर जो शुभवृत्ति उठती है, उसका जिसे प्रेम है, उसे जगत के बाह्य विषयों का प्रेम है—आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं है। द्रव्यलिंगी मुनि होकर जो ऐसा मानता हो कि अट्ठाईस मूलगुण आदि शुभ विकल्प मुझे मोक्ष का कारण होंगे, तो उसे राग का

ही विश्वास है; किंतु मुक्तिदाता ऐसा जो अपना वीतरागी आत्मा उसका विश्वास नहीं है। बाह्य पदार्थों के विश्वास से वह ठगा जायेगा; क्योंकि जिन बाह्य पदार्थों के आधार से वह सुख मानता है, वे सब क्षणभर में दूर हो जायेंगे। इसलिये जो बाह्य विषयों में सुख मानता है, वह अवश्य ठगा जाता है। और ज्ञानी तो चिदानन्दस्वभाव में ही सुख मानकर उसी की श्रद्धा और उसी में रमणता करते हैं, इसलिये वे कभी ठगाये नहीं जाते, क्योंकि अपना आत्मा कभी धोखा नहीं देता—उसका कभी वियोग नहीं होता। संयोग तो धोखा देकर क्षण में छूट जाते हैं; इसलिये जो संयोगों के विश्वास पर सुखी होना चाहता है, वह अवश्य ठगाया जाता है। यह शरीर तथा यह अनुकूल संयोग मानों सदैव ज्यों के त्यों बने रहेंगे, इसप्रकार उनका विश्वास करके अज्ञानी उनमें सुख मानता है; किंतु जहाँ संयोग बदल जाते हैं और प्रतिकूलता आ जाती है वहाँ मानो अपना सुख चला गया!—इसप्रकार वह ठगाया जाता है। किंतु भाई! अनुकूल संयोगों के समय भी कहीं उनमें तेरा सुख नहीं था; तू व्यर्थ ही उनमें सुख की कल्पना करके ठगाया गया। ज्ञानी तो मानते हैं कि संयोग का क्या विश्वास? उनमें कहीं सुख दिखता ही नहीं। ज्ञानी की दृष्टि तो एक आत्मा पर ही स्थिर रहती है। अंयत्र कहीं जगत में उसकी दृष्टि स्थिर नहीं होती। एक निज आत्माराम में ही उसकी नजर स्थिर होती है, अहो! एक मेरा आत्मा ही सुख का धाम है; इसके अतिरिक्त जगत का अन्य कोई तत्त्व मेरे सुख का धाम नहीं है; तो फिर उन परद्रव्यों का क्या विश्वास?—उनमें रति कैसी? मेरा आत्मा ही मेरे आनन्द का धाम है।—इसप्रकार अपना आत्मा ही ज्ञानी की श्रद्धा का विषय है।

— ज्ञानी, अपने आत्मा का विश्वास करता है।

— अज्ञानी, बाह्य संयोगों का विश्वास करता है।

अज्ञानी बाह्य संयोग को सुखदाता मानकर उनमें से सुख लेना चाहता है, किंतु संयोग तो कभी सुख नहीं देते; इसलिये अज्ञानी ठगाया जाता है।

ज्ञानी बाह्य संयोगों में स्वप्न में भी सुख नहीं मानते, वे तो अपने स्वभाव को ही सुख का सागर समझकर उसका विश्वास तथा उसमें एकाग्रता करते हैं, और इसप्रकार अपने अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हैं; वे कभी ठगाये नहीं जाते।

इसलिये हे भव्य! अपने आत्मा को ही सुख का स्थान जानकर, उसी का विश्वास और उसी में रमणता कर। बाह्य पदार्थों में सुख की मान्यता छोड़।—ऐसा श्री पूज्यपाद स्वामी का उपदेश है।

''जगत इष्ट नहिं आत्म से''—सम्यक्त्वी को अपना आत्मा ही इष्ट है, आत्मा ही प्यारा है; आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुद भी जगत में इष्ट नहीं है, सुखरूप नहीं लगता। सम्यक्त्वी चक्रवर्ती हो और छह खण्ड राज्य तथा हजारों रानियाँ हों, तथापि वह स्वप्न में भी ऐसा विश्वास नहीं करता कि इनमें कहीं भी मेरा सुख है। समस्त संयोग मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं तथा उनके ओर की वृत्ति भी मुझे दु:खदायी है; उनमें कहीं भी मेरा सुख नहीं है; मेरा सुख तो मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही है;—इसप्रकार स्वभाव का विश्वास करके धर्मी जीव बारम्बार उसी का स्पर्श करता है—उसी में बारम्बार डुबकी लगाकर शांतरस का वेदन करता है। चैतन्य के विश्वास से ज्ञानी की नौका भवसागर से पार होकर मोक्ष में पहुँच जाती है ॥४९॥

शुभोपयोग के संबंध में सम्यग्दृष्टि की कैसी श्रद्धा है

(क्रमांक १९८ से चालू)

१३-श्री प्रवचनसार गाथा ११ में तथा टीका में धर्म परिणत जीव के शुभोपयोग को शुद्धोपयोग से विरोधी शक्तिसहित होने से स्वकार्य (-चारित्र का कार्य) करने के लिये असमर्थ कहा है, हेय कहा है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि-ज्ञानी (धर्मी) के शुभभाव में भी किंचित् भी शुद्धि का अंश नहीं है, कारण कि वह वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग नहीं है-बंधमार्ग ही है, ऐसी बात होने पर भी जहाँ ज्ञानी के (धर्मी के) शुभभाव को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है, वह उपचार से कहा है।

प्रश्न—किस अपेक्षा से वह उपचार किया है ?

उत्तर—व्यवहारचारित्र की साथ निश्चयचारित्र हो तो वे (शुभभाव) निमित्तमात्र है, उतना ज्ञान कराने की अपेक्षा वह उपचार किया है, ऐसा समझना।

प्रश्न—उपचार भी कुछ हेतु से किया जाता है, तो यहाँ वह हेतु क्या है ?

उत्तर—निश्चयचारित्र के धारक जीव को छठवाँ गुणस्थानक में वैसा ही शुभराग होता है परंतु ऐसा व्यवहार से विरुद्ध प्रकार का राग कभी भी होता ही नहीं, कारण कि उस भूमिका में तीन प्रकार की कषाय शक्ति का अभावसहित महामंद प्रशस्तराग होता है, उसे महा मुनि नहीं छूटते जानकर उनका त्याग करते नहीं। भावलिंगी मुनियों को कदाचित् मंदराग के उदय से व्यवहार चारित्र का भाव होता है, परंतु उस शुभभाव को भी हेय जानकर दूर करना चाहते हैं और उस-उस काल में ऐसा ही राग होना संभव है—ऐसा राग बलजोरी से-(-अपनी स्वसन्मुखता की कमजोरी से) आये बिना रहता नहीं किंतु मुनि उसे दूर से अतिक्रांत कर जाते हैं। इस हेतु से यह उपचार किया है, ऐसा समझना। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के दृढ़ श्रद्धा होती है।

इस संबंध में मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३७६-३७७ में कहा है कि—

बहुरि नीचली दशाविषैं केई जीवनिकै शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग कौं मोक्षमार्ग कह्या है। वस्तु विचार तैं शुभोपयोग मोक्ष का घातक ही है। जातैं बंधकौ कारण सोई मोक्ष का घातक है, ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग ही कौं उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग-अशुभोपयोग कौं हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहाँ अशुभोपयोगकौं छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्त्तना। जातैं शुभोपयोगतैं अशुभोपयोग में अशुद्धता की अधिकता है।

बहुरि शुद्धोपयोग होय, तब तो परद्रव्य का साक्षी भूत ही रहै है। तहाँ तौ किछू परद्रव्य का प्रयोजन ही नाहीं। बहुरि शुभोपयोग होय, तहाँ बाह्य व्रतादिक की प्रवृत्ति होय, अर अशुभोपयोग हो, तहाँ बाह्य अव्रतादिक की प्रवृत्ति होय। जातैं अशुद्धोपयोग कै अर परद्रव्य की प्रवृत्ति के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पाइए है। बहुरि पहलै अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग होइ; पीछैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग होइ, ऐसी क्रम परिपाटी है। परंतु कोई ऐसैं मानै कि शुभोपयोग है, सो शुद्धोपयोग कौं कारण है, जैसे अशुभ छूटकर शुभोपयोग हो है, तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है; जो ऐसैं ही कार्य-कारणपना हो तौ शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। (तो ऐसा नहीं है) द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं, तातैं परमार्थतैं इनकै कारणकार्यपना है नाहीं। जैसे अल्परोग निरोग होने का कारण नहीं, और भला नहीं, तैसे शुभोपयोग भी रोग समान है, भला नहीं है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, देहली पृष्ठ ३७५ से ७७)*

सभी सम्यग्दृष्टियों को ऐसा श्रद्धान होता है, परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वे व्यवहार

धर्म को मिथ्यात्व समझते हों; और ऐसा भी नहीं है कि उसे सच्चा मोक्षमार्ग समझते हों।

१४- **प्रश्न**—शास्त्र में प्रथम तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग और ४-५-६, गुणस्थान में अकेला शुभोपयोग कहा है, वह तारतम्यता की अपेक्षा से है या-मुख्यता की अपेक्षा से है ?

उत्तर—वह कथन तारतम्यता अपेक्षा नहीं है, परंतु मुख्यता की अपेक्षा से कहा है (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ४०१, देहली) इस संबंध में विस्तार से देखना हो तो प्रवचनसार (रायचंद्र ग्रंथमाला) अध्याय ३, गाथा ४८ श्री जयसेनाचार्य की टीका, पृष्ठ ३४२ में देखो।

१५- **प्रश्न**—शास्त्र में कई जगह-शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मों का क्षय होता है, ऐसा कथन है, अब शुभ तो औदयिकभाव है-बंध का कारण है, ऐसा होने पर भी शुभभाव से कर्मों का क्षय बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—(१) शुभ परिणाम-रागभाव-(मलिनभाव) होने से वे किसी भी जीव के हो-सम्यग्दृष्टि के हो या मिथ्यादृष्टि के हो किंतु वे मोहयुक्त उदयभाव होने से सम्यग्दृष्टि का शुभभाव भी बंध का ही कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है और यही बात सत्य ही है, जिसे इस शास्त्र में पृष्ठ ४५७ से ५५६ में अनेक शास्त्र के प्रमाण द्वारा दिखाया है।

(२) शास्त्र के कोई भी कथन का अर्थ करना हो तो प्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि वह किस नय का कथन है ? ऐसा विचार करने पर सम्यग्दृष्टि के शुभभावों से कर्मों का क्षय होता है-वह कथन व्यवहारनय का है, इसलिये उसका ऐसा अर्थ होता है कि—वह ऐसा नहीं है परंतु निमित्त बताने की अपेक्षा से यह उपचार किया है। अर्थात् वास्तव में वह शुभ तो कर्म बंध का ही कारण है परंतु सम्यग्दृष्टि के नीचे की भूमिका में—४ से १० गुणस्थान तक—शुद्ध परिणाम के साथ वह भूमिका के योग्य-शुभभाव निमित्तरूप होते हैं, उसका ज्ञान कराना इस उपचार का प्रयोजन है, ऐसा समझना।

(३) एक ही साथ शुभ और शुद्ध परिणाम से कर्मों का क्षय जहाँ पर कहा हो, वहाँ उपादान और निमित्त दोनों उस-उस गुणस्थान के समय होता है। इसप्रकार के ही होते हैं-विरुद्ध नहीं, ऐसा बताकर उसमें जीव के शुद्धभाव तो उपादानकारण है और शुभभाव निमित्तकारण है, ऐसे इन दो कारणों का ज्ञान कराया है। उसमें निमित्तकारण अभूतार्थ कारण है—वास्तव में कारण नहीं है, इसलिये शुभ परिणाम से कर्मों का क्षय कहना उपचार कथन है, ऐसा समझना।

(४) प्रवचनसार (पाटनी ग्रंथमाला) गाथा २४५ की टीका, पृष्ठ ३०१ में ज्ञानी के

शुभोपयोगरूप व्यवहार को 'आस्रव ही' कहा है, अतः उनसे संवर लेशमात्र भी नहीं है।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १६८ में भी कहा है कि 'उससे आस्रव का निरोध नहीं हो सकता', तथा गाथा १६६ में भी कहा है कि 'व्यवहारमोक्षमार्ग, वह सूक्ष्म परसमय है और वह बंध का हेतु होने से उसका मोक्षमार्गपना निरस्त किया गया है। गाथा १५७ तथा उसकी टीका में 'शुभाशुभ परचारित्र है, बंधमार्ग है; मोक्षमार्ग नहीं है।'

(५) इस संबंध में खास लक्ष्य में (-ख्याल में) रखने योग्य बात यह है कि पुरुषार्थसिद्धि-उपाय शास्त्र की गाथा १११ का अर्थ बहुत समय से कितेक द्वारा असंगत करने में आ रहा है, उसकी स्पष्टता के लिये देखो इस शास्त्र के पत्र नंबर ५५५-५६।

उपरोक्त सब कथन का अभिप्राय समझकर ऐसी श्रद्धा करना चाहिये कि-धर्मी जीव प्रथम से ही शुभराग का भी निषेध करते हैं। अतः धर्म परिणत जीव का शुभोपयोग भी हेय है, त्याज्य है, निषेध्य है, कारण कि वह बंध का ही कारण है। जो प्रथम से ही ऐसी श्रद्धा नहीं करता, उसे आस्रव और बंधतत्त्व की सत्य श्रद्धा नहीं हो सकती, और ऐसे जीव, आस्रव को संवररूप मानते हैं, शुभभाव को हितकर मानते हैं; इसलिये वे सभी झूठी श्रद्धावाले हैं। इस विषय में विशेष समझने के लिये देखो इस शास्त्र के पृष्ठ ५४७ से ५५६।

व्यवहार मोक्षमार्ग से लाभ नहीं है, ऐसी श्रद्धा करने योग्य है

१६- कितेक लोग ऐसा मान रहे हैं कि शुभोपयोग से अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से आत्मा को वास्तव में लाभ होता है तो वह बात मिथ्या है, कारण कि वे सब व्यवहारमोक्षमार्ग को वास्तव में बहिरंग निमित्तकारण नहीं मानते परंतु उपादानकारण मानते हैं। देखो श्री रायचंद्र ग्रंथमाला के पंचास्तिकाय गाथा ८६ में जयसेनाचार्य की टीका—

वहाँ अधर्मास्तिकाय का निमित्तकारणपना कैसे है, यह बात सिद्ध करने में कहा है कि **'शुद्धात्मस्वरूपे या स्थितिस्तस्य निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन कारणं, व्यवहारेण पुनरर्हत्सिद्धादि परमेष्ठि गुणस्मरणं च यथा, तथा जीव पुद्गलानां निश्चयेन स्वकीय स्वरूपमेव स्थितेरूपादान कारणं, व्यवहारेण पुनरधर्मद्रव्यं चेति सूत्रार्थः।** अर्थ—अथवा जैसे शुद्धात्मस्वरूप में ठहरने का कारण निश्चयनय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान है तथा व्यवहारनय से अर्हंत, सिद्धादि पंच परमेष्ठियों का गुणों का स्मरण है, तैसे जीव-पुद्गलों के ठहरने में निश्चयनय से उनका ही स्वभाव ही उपादानकारण है, व्यवहारनय से अधर्मद्रव्य, यह सूत्र का अर्थ है।'

इस कथन से सिद्ध होता है कि धर्मपरिणत जीव को शुभोपयोग का निमित्तपना और गतिपूर्वक स्थिर होनेवाले को अधर्मास्तिकाय निमित्तपना समान है और इस कथन से यह बात जानी जाती है कि निमित्त से वास्तव में लाभ (हित) माननेवाले, निमित्त को उपादान ही मानते हैं, व्यवहार को निश्चय ही मानते हैं अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग से वास्तव में लाभ मानते हैं; इसलिये वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३७८ में भी ऐसा कहा है कि—'यहु जीव निश्चयाभास को मानैं जानैं है। परन्तु व्यवहार साधन कौं भला जानैं है,... व्रतादिरूप शुभोपयोगरूप प्रवर्तैं है, तातैं अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत पद कौं पावैं है। परंतु संसार का भोक्ता रहै है।'

केवलज्ञान, क्रमबद्ध-क्रमवर्ती

१७- केवलज्ञान संबंधी अनेक प्रकार की विपरीत मान्यता चल रही है, अत: उनका सच्चा स्वरूप क्या है, वह इस शास्त्र में पत्र २०० से २१४ तक दिया गया है, उस मूल बात की ओर आपका ध्यान खींचने में आता है।

(१) केवली भगवान आत्मज्ञ है, परज्ञ नहीं है—ऐसी भी एक झूठी मान्यता चल रही है परंतु श्री प्रवचनसार गाथा १३ से ५४ तक टीका सहित उनका स्पष्ट समाधान किया है, उनमें गाथा ४८ में कहा है कि 'जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है', बाद में विस्तार से टीका करके अंत में कहा है कि 'इसप्रकार फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने को (आत्मा को) नहीं जानता।' प्रवचनसार गाथा ४९ (पाटनी ग्रंथमाला) में भी बहुत स्पष्ट कहा है, गाथा पर टीका के साथ जो कलश दिया है, वह खास सूक्ष्मता से पढ़ने योग्य है।

शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान है; इसलिये केवलज्ञान प्रगट करने के लिये शुद्धोपयोग अधिकार शुरु करते आचार्यदेव ने प्रवचनसार गाथा १३ की भूमिका में कहा है कि 'इसप्रकार यह (भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव) समस्त शुभाशुभोपयोगवृत्ति को अपास्तकर, (हेय मानकर, तिरस्कार करके, दूर करके) शुद्धोपयोगवृत्ति को आत्मसात (अपने रूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें (पहले) शुद्धोपयोग के फल की आत्मा के प्रोत्साहन के लिये प्रशंसा करते हैं' कारण कि शुद्धोपयोग का ही फल केवलज्ञान है।

उस केवलज्ञान के संबंध में विस्तार से स्पष्ट आधार द्वारा समझने के लिये देखो इस शास्त्र के पत्र नंबर २०० से २१४ तक।

(२) प्रवचनसार गाथा ४७ की टीका में सर्वज्ञ का ज्ञान के स्वभाव का वर्णन करते-करते कहा है कि 'अतिविस्तार से बस हो, जिसका अनिवारित फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है' इससे ही सिद्ध होते हैं कि सर्वज्ञेयों का संपूर्ण स्वरूप-प्रत्येक समय में केवलज्ञान के प्रति सुनिश्चित होने से अनादि-अनंत क्रमबद्ध-क्रमवर्ति पर्यायें केवलज्ञानी के ज्ञान में स्पष्ट प्रतिभासित हैं और वे सुनिश्चित होने से सब द्रव्यों की सब पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, उल्टी-सीधी, अगम्य या अनिश्चित होती ही नहीं।

(३) पर्याय को क्रमवर्ती भी कहने में आता है, उसका अर्थ श्री पंचास्तिकाय की गाथा १८ की टीका में ऐसा किया है कि—'क्योंकि वे (पर्यायें) क्रमवर्ती होने से उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है।' बाद में गाथा २१ की टीका में कहा है कि 'जब जीव, द्रव्य की गौणता से तथा पर्याय की मुख्यता से विवक्षित होता है, तब वह (१) उपजता है, (२) विनष्ट होता है, (३) जिसका स्वकाल बीत गया है, ऐसे सत् (-विद्यमान) पर्याय समूह को विनष्ट करता है और (४) जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (-आ पहुँचा है) ऐसे असत् को (अविद्यमान पर्याय समूह को) उत्पन्न करता है।

(४) पंचाध्यायी भाग १, गाथा १६७-६८ में कहा है कि ''क्रम' धातु है जो पाद विशेष अर्थ में प्रसिद्ध है'' गमन में पैर दायाँ बायाँ क्रमसर ही चलते हैं, उलटे क्रम से नहीं चलता; इसप्रकार द्रव्यों की पर्याय भी क्रमबद्ध होती है, जो अपने-अपने अवसर में प्रगट होती है, उसमें कोई समय पहले की पीछे और पीछे की पहले उल्टी-सीधी नहीं होती; अतः प्रत्येक पर्याय अपने स्व समय में ही क्रमानुसार प्रगट होती रहती है।

(५) पर्याय को क्रमभावी भी कहने में आता है, श्री प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायशास्त्र में [३, परोद्वा परि० सू० ३ गाथा १७-१८ की टीका में] कहा है कि 'पूर्वोत्तर चारिणोः कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयोः कार्यकारणयोः श्चाग्नि धुमादिस्वरूपयोः इति। वे नक्षत्रों का दृष्टांत से भी सिद्ध होता है कि जैसे नक्षत्रों के गमन का क्रमभावीपना कभी भी निश्चित क्रम को छोड़कर उलटा नहीं होता, वैसे ही द्रव्यों की प्रत्येक पर्यायों का उत्पाद-व्ययरूप प्रवाह का क्रम अपने निश्चित क्रम को छोड़कर कभी भी उल्टा-सीधा नहीं होता परंतु उसका निश्चित स्व समय में उत्पाद होता रहता है।

(६) केवली-सर्वज्ञ का ज्ञान के प्रति-सर्वज्ञेयों सर्वद्रव्यों की त्रिकालवर्ती सर्व पर्यायें

ज्ञेयपना से निश्चित ही है और क्रमबद्ध है, उसकी सिद्धि करने के लिये प्रवचनसार गाथा ९९ की टीका में बहुत स्पष्ट कथन है। विशेष देखो, पाटनी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार गाथा—

गाथा	१०	पृष्ठ	१२	टीका और भावार्थ	
''	२३	''	२७-२८	''	''
''	३७	''	४४	''	''
''	३८	''	४५	''	''
''	३९	''	४६	''	''
''	४१	''	४८	''	''
''	४८-४९	''	५५ से ५८	''	''
''	५१	''	५९	''	''
''	९९	''	१२४-२६	''	''
''	११३	''	१४७-४८	''	''
''	२००	''	२४३	''	''

(७) श्री समयसारजी शास्त्र की टीका में कलशों की श्री राजमलजी कृत टीका (सूरत से प्रकाशित) में पृष्ठ १० में कहा है कि ताकौं व्योरो—'**यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै, इसो न्योधु (नोंध) केवलज्ञान माहे छै।**'

(८) अवधिज्ञानी, मन:पर्यायज्ञानी भी भविष्य की पर्यायों को निश्चितरूप से स्पष्ट जानते ही हैं, और नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र तथा ताराओं की गति, उदय, अस्त, ग्रहण काल आदि को निश्चितरूप से अल्पज्ञ जीव भी जान सकते हैं तो सर्वज्ञ वीतराग पूर्णज्ञानी होने से सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को निश्चितरूप से (उसके क्रम में नियत) कैसे नहीं जान सकता ?—अवश्य जानता ही है।

(९) इस कथन का प्रयोजन-स्वतंत्र वस्तु स्वरूप का ज्ञान द्वारा केवलज्ञानस्वभावी अपनी आत्मा का जो पूर्णस्वरूप है, उसका निश्चय करके, सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का वास्तविक श्रद्धान कराना और मिथ्या श्रद्धा छुड़ाना चाहिये। क्रमबद्ध के सच्चे श्रद्धान में कर्तापने का और पर्याय का आश्रय से छूटकर अपना त्रैकालिक ज्ञाता स्वभाव की दृष्टि और आश्रय होता है, उसमें स्वसन्मुख ज्ञातापने का सच्चा पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म उन पाँचों का समूह एक ही साथ होता है, यह नियम है। ऐसा अनेकांत वस्तु का स्वभाव है, ऐसा श्रद्धान करना, कारण कि

उसका श्रद्धा बिना किये सच्ची मध्यस्थता आ सकती नहीं।

१८- तत्त्वज्ञानी स्व० श्री पंडित बनारसीदासजी ने 'परमार्थ वचनिका' में ज्ञानी-अज्ञानी का भेद समझने के लिये कहा है कि:—

(१) अब मूढ़ तथा ज्ञानी जीव को विशेषपणौ और भी सुनो,—ज्ञाता तो मोक्षमार्ग साधि जानै, मूढ़ मोक्षमार्ग न साधि जानै, काहे—यातैं सुनो—मूढ़ जीव आगमपद्धति को *व्यवहार कहै; अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहै, तातैं आगम अंग एकान्तपनौ साधिकै मोक्षमार्ग दिखावै, अध्यात्मअंग को** व्यवहार से (भी) न जानैं, यह मूढ़दृष्टि की स्वभाव, वाहि याही भांति सूझै काहेतैं ?—यातैं जू-आगमअंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, ताकौ स्वरूप साधिवो सुगम। ता (वे) बाह्यक्रिया करतौ संतौ आपकूं मूढ़ जीव मोक्ष को अधिकारी मानै, (परंतु) अंतरगर्भित अध्यात्मरूप क्रिया सौ अंतर्दृष्टि ग्राह्य है, सो क्रिया मूढ़ जीव न जानै। अंतर्दृष्टि के अभावसौं अंतरक्रिया दृष्टिगोचर आवे नाहीं, तातैं मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधिवे को असमर्थ है।

(२) अथ सम्यक् दृष्टि को विचार सुनौ—

सम्यग्दृष्टि कहा (कौन) सो सुनो—संशय, विमोह, विभ्रम ए तीन भाव जामैं नाहीं, सो सम्यग्दृष्टि। संशय, विमोह, विभ्रम कहा-ताको स्वरूप दृष्टांत करि दिखायतु है, सो सुनो-जैसैं च्यार पुरुष काहु एकस्थान विषै ठाढ़े। तिन्ह चारि हूँ के आगे एक सीप को खण्ड किन्हीं और पुरुषनै आनि दिखायो। प्रत्येक तैं प्रश्न कीनौ कि यह कहा है ? सीप है कै रूपो है, प्रथम ही एक पुरुष संशैवालो बोल्यो - कछु सुध नाहीं परत, किधौं सीप है किधौं यपो है, मोरी दिष्टिविषै याकौ निरधार होत नाहिनै। भी दूजो पुरुष विमोहवालो बोल्यो कि कछु मोहि यह सुधि नाहीं कि तुम सीप कौनसौं कहतु है, रूपौ कौनसौं कहतु है, मेरी दृष्टिविषै कछु आवतु नाहीं तातै हम नांहिनै जानत कि तू कहा कहतु है अथवा चुप ह्वै रहे, बोलै नाहीं गहलरूप सौं। भी तीसरो पुरुष विभ्रमवालो बोल्यो कि - यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान रूपो है, याको सीप कौन कहै, मेरी दृष्टिविषै तो रूपो सूझतु है, तातैं सर्वथा प्रकार यह रूपो है, सो तीनों पुरुष तौ वा सीप को स्वरूप जान्यौ नाहीं। तातैं तीनों मिथ्यावादी। अब चोथौ पुरुष बोल्यो कि यह तौ प्रत्यक्ष प्रमान सीप को खण्ड है, यामें कहां धोखो,

---

* आगम पद्धति-दो प्रकार से—(१) भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरूप-अर्थात् दया, दान, पूजा, अनुकम्पा, अव्रत तथा अणुव्रत-महाव्रत, मुनि के २८ मूलगुणों का पालनादि शुभभावोंरूप जीव के मलिन परिणाम। (२) द्रव्यरूप पुद्गल परिणाम।

सीप सीप सीप, निरधार सीप, याको जु कोई और वस्तु कहै, सो प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रामक अथवा अंध। तैसें सम्यग्दृष्टि कौ स्वपरस्वरूपविषै न संसै है, न विमोह, न विभ्रम; यथार्थदृष्टि है, तातै सम्यग्दृष्टि जीव अंतरदृष्टि करि मोक्षपद्धति साधि जानै। बाह्यभाव बाह्यनिमित्तरूप* मानैं; सो निमित्त नानारूप है, एकरूप नाहीं, अन्तरदृष्टि के प्रमान मोक्षमार्ग साधै, सम्यग्ज्ञान स्वरूपाचरन की कनिका जागे मोक्षमार्ग सांचौ। मोक्षमार्ग कौ साधिवो× यहै व्यवहार, शुद्धद्रव्य+ अक्रियारूप सो निश्चे। ऐसैं व्यवहार कौ स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानै, मूढ़जीव न जानै न मानै। मूढ़ जीव बंध पद्धति को साधिकरि मोक्ष कहै, सो बात ज्ञाता मानै नाहीं। काहेतैं, यातैं जु बन्ध के साधते बंध सधै, मोक्ष सधै नाहीं। ज्ञाता कदाचित बन्ध पद्धति विचारै, तब जानै कि या पद्धतिसौं** मेरो द्रव्य अनादि को बन्धरूप चल्यो आयो है–अब या पद्धतिसों× मोह तोरिवो है या पद्धति को राग पूर्व की ज्यों हे नर काहे करौ ?।

छिनमात्र भी बन्ध पद्धतिविषै मगन होय नाहीं सो ज्ञाता अपनो स्वरूप विचारै, अनुभवै, ध्यावै, गावै, श्रवन करै, नवधा भक्ति, तप क्रिया अपने शुद्धस्वरूप के सन्मुख होइकरि करै। यह ज्ञाता को आचार, याहीं को नाम मिश्र व्यवहार।

(४) अब हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप ज्ञाता की चाल ताको विचार लिख्यते

हेय–त्यागरूप तौ अपने द्रव्य की अशुद्धता, ज्ञेय–विचाररूप अन्य षट्द्रव्य को

---

* व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्य को कहनेवाला होने से जितने अलग-अलग, एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं, ऐसा वह विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है, परंतु उपादेयरूप से प्रयोजनवान नहीं है, ऐसी समझ पूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव अपने चारित्रगुण की पर्याय में आंशिक शुद्धता के साथ जो शुभ अंश है, उसे बाह्यभाव और बाह्य निमित्तरूप से जानते हैं। शास्त्र में कहीं पर उस शुभ को शुद्ध पर्याय का व्यवहारनय से साधक कहा हो तो उसका अर्थ वे बाह्य निमित्तमात्र है—हेय है ऐसा मानता है, अत: वे आश्रय करने योग्य या हितकर न मानकर बाधक ही है, ऐसा मानता है।

× पाटनी ग्रंथमाला श्री प्रवचनसार गाथा ९४ में "अविचलित चेतनामात्र आत्मव्यवहार है" ऐसा टीका में पृष्ठ १११-१२ में कहा है, उसे यहाँ 'मोक्षमार्ग साधिवो उसे व्यवहार' ऐसा निरूपण किया।

\+ त्रैकालिक एकरूप रहनेवाला जो आत्मा का ध्रुव ज्ञायकभाव है, वह भूतार्थ-निश्चयनय का विषय होने से उसे 'शुद्धद्रव्य अक्रियारूप' कहा गया है; उसे परमपारिणामिकभाव भी कहने में आता है और वह नित्य सामान्य द्रव्यरूप होने से निष्क्रिय है तथा क्रिया पर्याय है, इससे व्यवहारनय का विषय है।

** यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव को उसकी भूमिका के अनुसार होनेवाले शुभभाव को भी बंध पद्धति कही है। बंधमार्ग, बंध का कारण, बंध का उपाय और बंध पद्धति एकार्थ है।

× सम्यग्दृष्टि शुभभाव को बंधपद्धति में गिनते हैं, इससे इनसे लाभ या किंचित् हित मानते नहीं, और उनका अभाव करने का पुरुषार्थ करता है; इसलिये 'यह बंधपद्धति का मोह तोड़कर स्वसन्मुख प्रवर्तन का उद्यम करते हुए शुद्धता में वृद्धि करने की सीख अपने को दे रहे हैं।'

स्वरूप—उपादेय आचरनरूप अपने द्रव्य की शुद्धता, ताको व्योरौ-गुणस्थानक प्रमान हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप शक्ति ज्ञाता की होय। ज्यों-ज्यों ज्ञाता की हेय-ज्ञेय-उपादेयरूप वर्धमान होय त्यों-त्यों गुनस्थानक की बढ़वारी कही है, गुणस्थानक प्रवान ज्ञान, गुणस्थानक प्रमान क्रिया। तामैं विशेष इतनौ जु एक गुनस्थानकवर्ती अनेक जीव होहिं तौ अनेक रूप को ज्ञान कहिए, अनेकरूप की क्रिया कहिए। भिन्न-भिन्न सत्ता के प्रवान करि एकता मिलै नाहीं। एक-एक जीवद्रव्य विषैं अन्य अन्यरूप औदयिकभाव होंहि, तिन औदयिकभाव अनुसारी ज्ञान की अन्य अन्यता जाननी। परन्तु विशेष इतनो जु कोऊ जाति को ज्ञान एसो न होइ जु परसत्तावलम्बकशीली होइ करि मोक्षमार्ग साक्षात् कहे काहे तैं अवस्था प्रवान (कारण कि अवस्था के प्रमान में) परसत्तासलम्बक है। वे ज्ञान को परसत्तावलम्बी परमार्थता न कहे, जो ज्ञान हो सो स्वसत्तावलम्बनशीली होय ताके नाऊ ज्ञान। ता ज्ञान (उस ज्ञान) को सहकारभूत, निमित्तरूप नाना प्रकार के औदयिकभाव होंहि तीन्ह औदयिकभावों को ज्ञाता तमसागीर, न कर्त्ता न भोक्ता, न अवलम्बी, तातैं कोऊ यों कहै कि या भाँति के औदयिकभाव होहि सर्वथा, तौ फलानों गुणस्थानक कहिए सो झूठो। तिनि द्रव्य कौ स्वरूप सर्वथा प्रकार जान्यौ नाहीं। काहेतैं—यातैं जु और गुणस्थानकन की कौन बात चलावै, केवलिके भी औदयिकभावनिकी नानात्वता (अनेक प्रकारता) जाननी। केवली के भी औदयिकभाव एक से होय नाहीं। काहू केवलि कों दण्ड कपाटरूप क्रिया उदय होय, काहू केवलिकौं नाहीं। तौ केवलिविषैं भी उदय की नानात्वता है तौ और गुणस्थानक की कौन बात चलावै। तातैं औदयिक* भाव के भरोसे ज्ञान नाहीं, ज्ञान स्वशक्ति प्रवान है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति, ज्ञायक प्रमान ज्ञान, स्वरूपाचरनरूप चारित्र, यथानुभव प्रमान, यह ज्ञाता को सामर्थ्य पनौ।

इन बातन को व्यौरो कहांतांई लिखिये, कहांताई कहिए। वचनातीत, इन्द्रियातीत, ज्ञानातीत, तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहि। जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो बहुत करि समुझैगो, जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैगो सही परन्तु समुझैगा नहीं यह-वचनिका यथाका यथा सुमति प्रवान केवलिवचनानुसारी है। जो याहि सुणैगो समुझैगो सरदहैगो ताहि कल्याणकारी है भाग्यप्रमाण। इति परमार्थ वचनिका।

१९- समाज में आत्मज्ञान के विषय में अपूर्व जिज्ञासा और जागृति

(१) जिसे सत्य की ओर रुचि होने लगी है, जो सत्यतत्त्व को समझने और निर्णय करने के इच्छुक हैं वह समाज, मध्यस्थता से शास्त्रों की स्वाध्याय और चर्चा करके नयार्थ, अनेकांत,

* यहाँ सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को औदयिकभाव कहा है और वह औदयिकभाव से संवर निर्जरा नहीं परंतु बंध होता है।

उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार दो नयों की सच्ची व्याख्या और प्रयोजन तथा मोक्षमार्ग दो प्रकार से निरूपण, हेय-उपादेय और प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों की भी स्वतंत्रता केवलज्ञान और क्रमबद्ध पर्याय आदि प्रयोजनभूत विषयों में उत्साह से अभ्यास कर रहे हैं और तत्त्वनिर्णय के विषय में समाज में खास विचारों का प्रवाह चल रहा है, ऐसा नीचे के आधार से भी सिद्ध होता है—

(२) श्री भारत. दिगम्बर जैन संघ (मथुरा) द्वारा ई० सन् १९४४ में प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक (पंडित टोडरमलजी कृत) की प्रस्तावना पृष्ठ ९ में शास्त्रीजी ने कहा है कि 'अब तक शास्त्र स्वाध्याय और पारस्परिक चर्चाओं में एकांत निश्चयी और एकांत व्यवहारी को ही मिथ्यादृष्टि कहते सुनते आए हैं। परंतु दोनों नयों का अवलम्बन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं, यह आपकी (स्व० श्री टोडरमलजी की) नई और विशेष चर्चा है। ऐसे मिथ्यादृष्टियों के सूक्ष्मभावों का विश्लेषण करते हुए आपने कई अपूर्व बातें लिखी हैं। उदाहरण के लिए आपने इस बात का खंडन किया है कि मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार का है। वे लिखते हैं कि यह मान्यता निश्चय-व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टियों की है, वास्तव में पाठक देखेंगे कि जो लोग निश्चयसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग इत्यादि भेदों की रातिदिन चर्चा करते रहते हैं, उनके मंतव्य से पंडित जी का मंतव्य कितना भिन्न है ? इसीप्रकार आगे चले उन्होंने लिखा है कि **निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानना भी भ्रम है, क्योंकि दोनों नयों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, इसलिये दोनों नयों का उपादेयपना नहीं बन सकता। अभी तक तो यही धारणा थी कि न केवल निश्चय उपादेय है और न केवल व्यवहार किंतु दोनों ही उपादेय हैं किंतु पंडितजी ने इसे मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्ति बतलाई है।**'

आगे पृष्ठ ३० में उद्धरण दिया है कि 'जो ऐसा मानता है कि निश्चय का श्रद्धान करना चाहिये और प्रवृत्ति व्यवहार की रखना चाहिये' उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही बतलाते हैं।

२०- मुमुक्षु पाठकों से....

मुमुक्षुओं को इस ग्रंथ का सूक्ष्म दृष्टि से और मध्यस्थरूप से अध्ययन करना चाहिए। सत् शास्त्र का धर्म बुद्धि द्वारा अभ्यास करना सम्यग्दर्शन का कारण है। तदुपरांत, शास्त्राभ्यास में निम्न बातें मुख्यतया ध्यान में रखना चाहिए—

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(२) निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, सामायिक प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यानादि क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि वे क्रियाएँ पाँचवें गुणस्थान में शुभभावरूप से होती हैं।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है, किंतु अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि उससे धर्म होगा, अथवा वह शुभभावरूप व्यवहार करते-करते भविष्य में धर्म होगा; किंतु ज्ञानियों को वो हेय बुद्धि से होने से, उससे (-शुभभाव से धर्म होगा) ऐसा वे कभी नहीं मानते।

(४) पूर्ण वीतरागदशा प्रगट न हो, वहाँ तक पद् अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते किंतु उस भाव को धर्म नहीं मानना चाहिए और न ऐसा मानना चाहिए कि उससे क्रमशः धर्म होगा; क्योंकि वह विकार होने से अनंत वीतराग देवों ने उसे बंध का ही कारण कहा है।

(५) प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वतंत्र है; एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ कर नहीं सकती; परिणमित नहीं कर सकती, प्रेरणा नहीं दे सकती, प्रभाव-असर-मदद या उपकार नहीं कर सकती; लाभ-हानि नहीं कर सकती, मार-जिला नहीं सकती, सुख-दुःख नहीं दे सकती—ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता अनंत ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले निश्चयसम्यक्त्व होता है और फिर व्रत; और निश्चयसम्यक्त्व तो विपरीतअभिप्रायरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान है, इसलिये ऐसा यथार्थ श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये।

(७) प्रथम गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को ज्ञानी पुरुषों के धर्मोपदेश का श्रवण, उनका निरंतर समागम, सत्शास्त्र का अभ्यास, पठन-मनन, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दानादि शुभभाव होते हैं, किंतु पहले गुणस्थान में सच्चे व्रत-तपादि नहीं होते।

रामजी माणेकचंद दोशी,
प्रमुख—
श्री दिगम्बर स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़

ऋषि, साधु, यति, मुनित्व

परमात्मपुराण गतांक नंबर १९९ से चालू

अब वस्तुत्वगुण को ऋषि आदि भेद लगाते हैं उसमें रिषि वस्तुत्व को कहते हैं

सामान्य-विशेषरूप वस्तु उसके भाव को धारण करके वस्तुत्व है, सो सबमें व्यापक है।

सब गुण में सामान्य-विशेष भावरूप वस्तुपना द्वारा रिद्धि वस्तुत्व ने सबको दी है। जितने गुण हैं, उस-उस सामान्य-विशेषरूप है। ज्ञान में जानपना मात्र सामान्यभाव न होय तो लोकालोक प्रकाशक विशेष कहाँ से होय? इसलिये सामान्य से विशेष है, विशेष से सामान्य है। सामान्य -विशेषभाव रिद्धि वस्तु से है। इसप्रकार ही दर्शन देखनेमात्र न होय तो लोकालोक का निर्विकल्प सत्तामात्र वस्तु न देखे, इससे सामान्य-विशेष को धारण करता है। सब गुण सामान्य-विशेषभाव रिद्धि धारण करते हैं। सो सब एक वस्तुत्व की रिद्धि फैली है।

वस्तु द्रव्यरूप, द्रव्यवस्तु गुणरूप, गुणवस्तु पर्यायरूप, पर्यायवस्तु सब वस्तुत्व से है। संसार में वस्तु न होय तो नाम पदार्थ न होय।

प्रश्न—'शून्य' ऐसा नाम शून्य हुआ तो (शून्य शब्द का वाच्य) वस्तु क्या कहोगे?

उत्तर—एक शून्य तो आकाश है, सो सामान्य विशेष लिये (सहित) क्षेत्री वस्तु है। आकाश क्षेत्र में सब रहते हैं। दूसरा भेद यह—जो अभावमात्र में सामान्य अभाव, विशेष अभाव, सामान्य विशेष तो है परंतु अभावमात्र है। सामान्य विशेष सामान्यविशेष वस्तु में जिस तिसप्रकार अभाव में कहते हैं। अभाव को शून्यता तो है परंतु नाम सामान्य विशेष से अभाव को हुआ है। इसलिये सब सिद्धि सामान्य विशेष से होती है। वस्तु के नाम मात्र आते ही सामान्य विशेषता से अभाव ऐसा नाम पाया। जो नास्ति से सिद्धि न होती तो नास्तिस्वभाव स्वभावों में न होता। सत्ता अस्ति इति सत् सामान्य सत् नास्ति अभावसत् विशेष सत्ता का कहना हुआ, जो नास्ति का अभाव न होता तो सत्ता में अस्तिभाव न होता इसलिये अभाव ही से भाव हुआ है।

वस्तु के प्रकाश को वस्तुत्व करे जो वस्तु है, वह नास्ति नहीं है। वस्तु को ज्ञेय अथवा ज्ञायक-ज्ञान कहिये, सब प्रकाश एक चैतन्य वस्तु का है। वस्तुत्व पर्याय द्वारा वस्तुत्व परिणामी है। परवस्तु के द्वारा वस्तु अपरिणामी है। जीव वस्तु द्वारा जीवरूप है। जड़ परवस्तु द्वारा जीवरूप नहीं है। चेतन मूर्ति चेतना वस्तु से है और वह जड़ मूर्ति नहीं है, इससे अमूर्ति है। अपने प्रदेश की विवक्षा द्वारा सप्रदेशी है। परप्रदेश नहीं, इसलिये अप्रदेशी है। वस्तु एक की अपेक्षा एक है। गुण

वस्तु द्वारा अनेक है। अपने प्रदेशी की अपेक्षा क्षेत्री है। परवस्तु उत्पन्न होने का क्षेत्र नहीं।

अपनी पर्याय क्रिया द्वारा क्रियावान है। परक्रिया न करे, इसलिये अक्रियावान है। वस्तुत्व द्वारा नित्य है। पर्याय द्वारा अनित्य है। स्वयं अनंतगुण को कारण है। स्वयं को स्वयं कारण है। जड़ को अकारण है। स्वपरिणाम का आप कर्त्ता है। परपरिणाम का अकर्त्ता है। ज्ञान वस्तु की अपेक्षा सर्वगत है। पर की अपेक्षा निश्चयनय से पर में न जाये, इससे असर्वगत है। अपने प्रदेश लक्षण द्वारा अपने में प्रवेश आप करता है। निश्चय से पर में प्रवेश नहीं। वस्तुत्व से वस्तु नित्य है, पर्याय से अनित्य है। वस्तुत्व से अभेद है, पर्याय से भेद है, वस्तुत्व से अस्ति है, पर्याय से नास्ति है। वस्तुत्व से एक है, पर्याय से अनेक है, वस्तुत्व से अनादि-अनंत है। वस्तुत्व से अनादिपर्याय से सान्त-अनादि सान्त, पर्याय से सादि और वस्तुत्व से अनन्त-सादि अनन्त, पर्याय से सादि सान्त इत्यादि अनंत भेद वस्तुत्व के हैं। अनंतगुण की महिमा वस्तुत्व से है, ऐसी रिद्धि वस्तुत्व धारण करता है। इसलिये वस्तुत्वगुण को ऋषि कहते हैं।

आगे वस्तुत्वगुण को साधु आदि कहिये है

वस्तुत्व सामान्य विशेषता देकर सब द्रव्य-पर्याय को साधता है; आप परिणाम द्वारा आपको साधै है, इससे साधु कहिए। अपने भाव में अवस्तु विकार न आने दे, इसलिये यति कहिए। ज्ञानवस्तु अज्ञान विकार न आने दे, दर्शन-अदर्शन विकार न आने दे, वीर्य-अवीर्य विकार न आने दे, अतीन्द्रिय अनाकुल अनुभवरसस्वाद-उत्पन्न सुख, दुखविकार न आने दे, गुण-गुण का विकार अभाव भया इससे सब गुण वस्तुत्व यति नाम पाया। ज्ञानवस्तुत्व सबको प्रत्यक्ष करे, इसलिये वस्तुत्व को मुनि कहिए।

अब (किसी विवक्षा से) अगुरुलघुगुण को रिषि आदि चार भेद कहिए

अगुरुलघुगुण अनंतरिद्धिधारी है, न गुरु अर्थात् भारी, न हलका; द्रव्य जैसे का तैसा अगुरुलघु से है। पर्याय जैसी की तैसी अगुरुलघु से है। ज्ञान न हलका न भारी, दर्शन न हलका न भारी, वीर्य न हलका न भारी, प्रमेयत्व न हलका न भारी, सब गुण न हलके न भारी। अगुरुलघुगुण की रिद्धि सब गुणों में आई, इसलिये सब गुण ऐसे भये। षट्वृद्धि हानि विकार अगुरुलघु से भया, इसलिये सब द्रव्य गुण की सिद्धि इससे सब जैसे के तैसे पाइये वही कहते हैं—सिद्ध के।

(१) अनंत गुण में एक सत्तागुणरूप सिद्ध भगवान परिणमते हैं तहाँ अनंतवें भाग परिणमन की वृद्धि कहिये।

(२) असंख्यातगुण में एक वस्तुत्वगुण रूप परिणमें, ऐसा कहिये तब संख्यात भाग

परिणमन की वृद्धि कहिये।

(३) आठ गुणरूप परिणमें है, ऐसा कहिये तब संख्यातगुण परिणमन की वृद्धि कहिये।

(४) असंख्यात गुणरूप परिणमे हैं, ऐसा कहिये तब असंख्यातगुण परिणमन की वृद्धि कहिये।

(५) अनंतगुणरूप परिणमे है, ऐसा कहिये तब अनंत गुण परिणमन की वृद्धि भई। ऐसे षट्वृद्धि भई। परिणमन वस्तु में लीन भया, तहां हानि भई। छह भेद वृद्धि मिटि गई, इससे हानि ऐसा नाम पाया। इन वृद्धि हानि द्वारा वस्तु जैसी है, वैसी रहती है। षट्वृद्धि में सब गुणरूप परिणमित हुआ, तब गुण का स्वरूप प्रगट परिणमन से हुआ। न परिणमता तो गुण न प्रगटते, इसलिये वृद्धि गुण को रखता है। हानि न होती तो वस्तु का रसास्वाद ले परिणाम लीन न होता। परिणाम लीनता बिना द्रव्य रसास्वाद से तृप्त न होता। तब रसास्वाद की तृप्ति बिना द्रव्य, द्रव्य की स्पष्टता न धरता, तब द्रव्यपना न रहता। इसलिये अगुरुलघु से सब सिद्धि भई। यह सब सिद्धि करने की सिद्धि अगुरुलघु लिये है। अनंत गुणद्रव्यपर्याय की सिद्धि अगुरुलघुने कीनी। इससे ऐसी रिद्धि का धारक अगुरुलघुगुण रिषि कहिये। [यह हानि-वृद्धि तो अपनी विवक्षा से घटाई है। वस्तुतः तो उसे आगमगम्य कही है।]

आगै अगुरुलघुगुण को साधु कहिये

यह अगुरुलघु सबको साधै है, इसलिये साधु संज्ञा भई। वृद्धि हानि से गुण जैसे के तैसे रहे, तब न हलके होय न भारी होय, तब सबका साधक भया, तब साधु कहिये। आपको आपकी परिणति से साधे; इसलिये साधु है।

अब अगुरुलघु को यति कहिये

हलका भारी विकार जीति अपने स्वभाव निवसै है। जो हलका होता तो पवन में उड़ता, भारी होता तो अधोपतन होता, इससे ऐसे विकार का अभाव द्वारा अपनी यति वृत्ति स्वयं प्रगट करी। अपने विकार मेटे और गुण के विकार मेटे। जती अपना विकार मेटे, पर का विकार मेटे, इसलिये यति संज्ञा अगुरुलघु को कहिये।

अगुरुलघु को मुनि संज्ञा

अपने को स्वयं प्रत्यक्ष करे, ज्ञान का अगुरुलघु में ज्ञान प्रत्यक्ष आया, तब अगुरुलघु प्रत्यक्ष ज्ञान का धारी भया, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानी को मुनि संज्ञा है। इससे अगुरुलघु को मुनि कहिये। ये चारों भेद अगुरुलघुगुण में भये। *(क्रमशः)*

आत्मार्थी जीवों के लिये
मननीय हस्ताक्षर

ॐ
निज स्वरूपनो उपयोग ते सुख छे।
ते आबालगोपाल करी शके छे।
अेविना शांतिनो बीजो कोई उपाय नथी।

पूज्य गुरुदेव के मंगल-हस्ताक्षर 'आत्मधर्म' में प्रथमबार प्रकाशित करते हुए हमें आनन्द होता है।

गुरुदेव के उपरोक्त हस्ताक्षर आत्मार्थी जीवों के लिये मननीय हैं; इसलिये उन पर कुछ मनन यहाँ दिया जा रहा है।

हस्ताक्षरों में सर्व प्रथम 'ॐ' है वह मंगल सूचक है और तीर्थंकर भगवान की वाणी है।

किसी भी जिज्ञासु को सामान्यतः यह विचार आता है कि दुःख में डूबा हुआ मेरा आत्मा सुखी कैसे हो ? अभी तक मैंने जो कुछ किया, उसमें मुझे सुख प्राप्त नहीं हुआ तो मेरा आत्मा किस उपाय से-क्या करने से सुखी होगा ?—इसप्रकार सुख के शोधक जिज्ञासु को मार्ग बतलाते हुए गुरुदेव प्रथम पंक्ति लिखते हैं कि:—

निज स्वरूप का उपयोग, वह सुख है

जीव का मुख्य कार्य 'उपयोग' है; अपने उस उपयोग को जीव अनादि से बाह्य विषयों में भटका रहा है; किंतु बाह्य विषयों में सुख हो, तब मिले न ? बाह्य विषयों में तो सुख है नहीं, और अंतरविषय में अर्थात् निजस्वरूप में उपयोग को लगाता नहीं है; इसीलिये जीव को सुख का वेदन नहीं होता। सुख तो अपने स्वरूप में ही है; उस निज स्वरूप में उपयोग को लगाने से अतीन्द्रिय सुख का अपूर्व वेदन होता है; इसलिये निजस्वरूप का उपयोग, वह सुख है तथा वही कर्तव्य है।

''निज स्वरूप का उपयोग, वह तो ध्यान है और हम तो अभी बालक हैं, अथवा वृद्ध हो गये हैं, या स्त्री हैं तो हमसे वह कैसे होगा ? निजस्वरूप का उपयोग तो महाज्ञानी महात्मा संतों से

ही हो सकता है;''—ऐसा समझकर यदि कोई उसमें निरुत्साहित हो रहा हो तो उसे प्रोत्साहित करने के लिये पूज्य गुरुदेव (दूसरी पंक्ति में) लिखते हैं कि—

वह आबालवृद्ध कर सकते हैं

आंतरिक लगनपूर्वक जो भी जीव करना चाहे, उसे निजस्वरूप का उपयोग हो सकता है। उपयोग को अंतर्मुख करने के लिये निजस्वरूप की अचिंत्य महिमा लाकर बारम्बार उसका चिंतन-मनन करना चाहिये। सच्ची लगनपूर्वक यदि अपने स्वरूप की महिमा का चिंतवन करे तो उपयोग अवश्य ही उस ओर उन्मुख हो जाये।

एक बार दो मुमुक्षु मिले। एक ने दूसरे से पूछा कि 'क्यों भाई! कुछ परमात्मा का ध्यान करते हो?' दूसरा मुमुक्षु बोला—'अरे भाई, अपने से वह ध्यान कैसे हो सकता है? अपने को तो कुछ नहीं आता।' गुरुदेव कहते हैं कि—हाँ; आबालवृद्ध सब उसे कर सकते हैं।—इतना अवश्य है कि अनादिकालीन अनभ्यास के कारण वह प्रारम्भ में कठिन मालूम होता है.... तथापि वह कहीं असम्भव नहीं है कि अपने से न हो सके! इसलिये, 'वह आबाल वृद्ध कर सकते हैं'—ऐसा कहकर गुरुदेव आत्मार्थी जीवों को प्रेरणा देते हैं कि आंतरिक लगन से, आत्मा की अतिशय प्रीति पूर्वक अपने सर्व पुरुषार्थ को उसमें युक्त करके, उपयोग को निजस्वरूपोन्मुख करने का प्रयत्न करना चाहिये.... अर्थात् आत्मध्यान का प्रयत्न करना चाहिये। प्रारम्भ में वह ध्यान न हो सके तो तब तक ऐसे आत्मध्यानी संतों को दृष्टि समक्ष रखकर पुनः पुनः सततरूप से उसके अभ्यास में आत्मा को उत्साहित करना चाहिये; क्योंकि—

उसके बिना शांति का अन्य कोई उपाय नहीं है

बस, 'निजस्वरूप का उपयोग वह सुख है;' 'उसके अतिरिक्त शांति का अन्य कोई उपाय नहीं है;'—इसप्रकार 'अनेकांत' भी हो गया; यही भगवान का मार्ग है। भगवान की 'ॐ' ध्वनि के उपदेश का संक्षिप्त सार इसमें आ जाता है।

गुरुदेव के इन हस्ताक्षरों द्वारा आत्मार्थी जीव निजस्वरूप में उपयोग को लगाने की प्रेरणा प्राप्त करें!

निजात्मा का आराधक
परमात्मा होता है

अजमेकं परं शांतं सर्वोपाधिविवर्जितं।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः॥१८॥
स एवामृतमार्गस्थ स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः॥१९॥

[पद्मनन्दि-एकत्व सप्तति]

जन्मरहित, एकरूप, परमउत्कृष्ट, शांत तथा सर्व उपाधि से रहित ऐसे अपने आत्मा को आत्मा द्वारा ही जानकर, उस आत्मस्वरूप में ही निश्चलरूप से जो स्थिर रहता है, वही पुरुष स्वयं अमृतमार्ग में स्थित है—मोक्षमार्ग में स्थित है; वही मोक्ष प्राप्त करता है, वही अर्हत् (पूज्य) है, वही जगत का नाथ है, वही प्रभु है और वही स्वयं ईश्वर है।

—इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि—अपने आत्मा को जानकर उसमें निश्चलरूप से स्थिर रहने का उद्यम करें।

हेय, ज्ञेय, उपादेय

हेय—त्यागरूप—अपने द्रव्य की अशुद्धता;
ज्ञेय—विचाररूप—अन्य षट्द्रव्य का स्वरूप;
उपादेय—आचरणरूप—अपने द्रव्य की शुद्धता।

★

नया प्रकाशन

गुजराती टू हिन्दी शब्द कोष—

जिसमें पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों समझने में सुगम हो जाये ऐसा संक्षेप में सुन्दर शब्द संग्रह है। मूल्य ०-२५। हमारे साहित्य प्रकाशन विभाग के सूचीपत्र जिसमें पुस्तकों का स्वरूप ख्याल में आ जाये इस ढंग से परिचय है।

दशलक्षण धर्म (प्रवचन)

जिसमें उत्तम क्षमादि धर्मों के ऊपर आध्यात्मिक सुंदर शैली से विवेचन है। निश्चय-व्यवहार धर्म कब और कैसे होता है ? यथार्थ भावभासनपूर्वक आत्मिक शांति, स्वतंत्रता, यथार्थता का स्वाद लेने के लिये इसे अवश्य पढ़िये। पृष्ठ ९५, मूल्य -०.५३।

समयसार प्रवचन भाग १

पृष्ठ ४८८, मूल्य ४.७५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा। समयसारजी ग्रंथाधिराज है, उसमें प्रवेश पाने के लिये समयसारजी के ऊपर किये गये प्रवचन भाग १-२-३ अवश्य पढ़िये।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसारजी मूलग्रन्थ संस्कृत टीका सहित छप रहा है—

सर्वोत्तम सुंदर पद्धति से छपते हैं और अध्यात्म विद्या का सर्वोत्तम और सुगम ग्रंथाधिराज सभी तत्त्व जिज्ञासुओं के हाथ में आवे और लाभ लें, ऐसी भावना से सस्ते में ही दिये जायेंगे, प्रकाशित होने में शायद तीन मास लग जायेंगे। बाद प्रवचनसारजी शास्त्र छपेंगे।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।